

महावीर के आत्मवाद की औचित्यता है। यही उनका वैशियष्टय है।  
सन्दर्भ

१. मज्झिमनिकाय, २/३/७
२. संयुक्तनिकाय, ३/१/१
३. (अ) सूत्रकृतांग, प्रथम अध्ययन, (ब) भगवती १/९/५, शतक १५ (स) उत्तराध्ययन १४/१८
४. ये प्राचीनतम माने जाने वाले उपनिषद् महावीर के समकालीन या उनसे कुछ परवर्ती ही हैं, क्योंकि महावीर के समकालीन "अजातशत्रु" का नाम निर्देश इनमें उपलब्ध है। बृहदा. २/१५-१७
५. गीता ३/२७/, २/२१, ८/१७
६. अंगुत्तरनिकाय का छक्क निपातसुत्त तथा भगवान् बुद्ध, धर्मानन्द कौशम्बी, पृ. १८

७. गोशालक की छः अभिजातियाँ व्यक्ति के आध्यात्मिक विकास की भूमिकाएँ हैं —  
१. कृष्ण, २. नील, ३. लोहित, ४. हरित, ५. शुक्ल, ६. परमशुक्ल, तुलनीय, जैनों का लेश्या-सिद्धान्त — (१) कृष्ण, (२) नील, (३) कपोत, (४) तेजो, (५) पद्म, (६) शुक्ल  
(विचारणीय तथ्य यह है कि गोशालक के अनुसार निर्ग्रन्थ साधु तीसरे लोहित नामक वर्ग में हैं जबकि जैन धारणा भी उसे तेजोलेश्या (लोहित) वर्ग का साधक मानती है)
८. छान्दोग्य उपनिषद्, ३/१४/३  
बृहदारण्यक उपनिषद्, ५/६/१  
कठोपनिषद्, २/४/१२
९. गीता, २/१८-२०.

## जैन दर्शन में आत्मा : स्वरूप एवं विश्लेषण

आत्मा या जीव द्रव्य को अस्तिकाय वर्ग के अन्तर्गत रखा जाता है। जीव द्रव्य का लक्षण उपयोग या चेतना को माना गया है। इसीलिए इसे चेतन द्रव्य भी कहा जाता है। उपयोग या चेतना के दो प्रकारों की चर्चा आगमों में मिलती है-निराकार उपयोग और साकार उपयोग। इन दोनों को क्रमशः दर्शन और ज्ञान कहा जाता है। निराकार उपयोग, वस्तु के सामान्य स्वरूप का ग्रहण करने के कारण, दर्शन कहा जाता है और साकार उपयोग, को वस्तु के विशिष्ट स्वरूप का ग्रहण करने के कारण, ज्ञान कहा जाता है। जीव द्रव्य के सन्दर्भ में जैन दर्शन की विशेषता यह है कि वह जीव द्रव्य को एक अखण्ड द्रव्य न मानकर अनेक द्रव्य मानता है। उसके अनुसार प्रत्येक जीव की स्वतन्त्र सत्ता है और विश्व में जीवों की संख्या अनन्त है। इस प्रकार संक्षेप में जीव अस्तिकाय, चेतन, अरूपी और अनेक द्रव्य है।

जीव को जैन दर्शन में आत्मा भी कहा गया है। अतः यहाँ आत्मा के सम्बन्ध में कुछ मौलिक प्रश्नों पर विचार किया जा रहा है-  
**आत्मा का अस्तित्व**

जैन दर्शन में जीव या आत्मा को एक स्वतन्त्र तत्त्व या द्रव्य माना गया है। जहाँ तक हमारे आध्यात्मिक जीवन का प्रश्न है आत्मा के अस्तित्व पर शंका करके आगे बढ़ना असम्भव है। जैन दर्शन में आध्यात्मिक विकास की पहली शर्त आत्म-विश्वास है। विशेषावश्यकभाष्य के गणधरवाद में आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए निम्न तर्क प्रस्तुत किये गये हैं-

(१) जीव का अस्तित्व जीव शब्द से ही सिद्ध है, क्योंकि असद् वस्तु की कोई सार्थक संज्ञा ही नहीं बनती।<sup>१</sup>

(२) जीव है या नहीं, यह सोचना मात्र ही किसी विचारशील सत्ता अर्थात् जीव की सत्ता को सिद्ध कर देता है। देवदत्त जैसा सचेतन प्राणी ही यह सोच सकता है कि वह स्तम्भ है या पुरुष?।<sup>२</sup>

(३) शरीर स्थित जो यह सोचता है कि 'मैं नहीं हूँ' वही तो जीव है। जीव के अतिरिक्त संशयकर्ता अन्य कोई नहीं है। यदि आत्मा ही न हो तो ऐसी कल्पना का प्रादुर्भाव ही कैसे हो कि मैं हूँ या नहीं? जो निषेध कर रहा है वह स्वयं ही आत्मा है। संशय के लिए किसी ऐसे तत्त्व के अस्तित्व की अनिवार्यता है जो उस विचार का आधार हो। बिना अधिष्ठान के कोई विचार या चिन्तन सम्भव नहीं हो सकता। संशय का अधिष्ठान कोई न कोई अवश्य होना चाहिए। महावीर गौतम से कहते हैं- हे गौतम! यदि कोई संशयकर्ता ही नहीं है तो 'मैं हूँ' या 'नहीं हूँ' यह संशय कहाँ से उत्पन्न होता है? तुम स्वयं अपने ही विषय में सन्देह कैसे कर सकते हो, फिर किसमें संशय न होगा? क्योंकि संशय आदि जितनी भी मानसिक और बौद्धिक क्रियाएँ हैं, वे सब आत्मा के कारण ही हैं। जहाँ संशय होता है, वहाँ आत्मा का अस्तित्व अवश्य स्वीकारना पड़ता है। वस्तुतः जो प्रत्यक्ष अनुभव से सिद्ध है, उसे सिद्ध करने के लिए किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं। आत्मा स्वयंसिद्ध है, क्योंकि उसी के आधार पर संशयादि उत्पन्न होते हैं सुख-दुःखादि को सिद्ध करने के लिए भी किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं।<sup>३</sup> ये सब आत्मपूर्वक ही हो सकते हैं। आचारांगसूत्र में कहा गया है कि जिसके द्वारा जाना जाता है, वही आत्मा है।<sup>४</sup>

आचार्य शंकर ब्रह्मसूत्र भाष्य में ऐसे ही तर्क देते हुए कहते हैं कि जो निरसन कर रहा है वही तो उसका स्वरूप है।<sup>५</sup> आत्मा के

अस्तित्व के लिए स्वतः बोध को आचार्य शंकर भी एक प्रबल तर्क के रूप में स्वीकार करते हैं। वे कहते हैं कि सभी को आत्मा के अस्तित्व में भरपूर विश्वास है, कोई भी ऐसा नहीं है जो यह सोचता हो कि 'मैं नहीं हूँ'।<sup>६</sup> अन्यत्र शंकर स्पष्ट रूप से यह भी कहते हैं कि बोध से सत्ता को और सत्ता से बोध को पृथक् नहीं किया जा सकता।<sup>७</sup> यदि हमें आत्मा का स्वतः बोध होता है तो उसकी सत्ता निर्विवाद है।

पाश्चात्य विचारक देकार्त ने भी इसी तर्क के आधार पर आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध किया है। वह कहता है कि सभी के अस्तित्व में सन्देह किया जा सकता है, परन्तु सन्देहकर्ता में सन्देह करना तो सम्भव नहीं है, सन्देहकर्ता का अस्तित्व सन्देह से परे है। सन्देह करना विचार करना है और विचारक के अभाव में विचार नहीं हो सकता। मैं विचार करता हूँ, अतः 'मैं हूँ' इस प्रकार देकार्त के अनुसार भी आत्मा का अस्तित्व स्वयंसिद्ध है।<sup>८</sup>

(४) आत्मा अमूर्त है, अतः उसको उस रूप में तो नहीं जान सकते जैसे घट, पट आदि वस्तुओं का इन्द्रिय प्रत्यक्ष के रूप में ज्ञान होता है। लेकिन इतने मात्र से उनका निषेध नहीं किया जा सकता। जैन आचार्यों ने इसके लिए गुण और गुणी का तर्क दिया है। घट आदि जिन वस्तुओं को हम जानते हैं उनका भी यथार्थ बोध-प्रत्यक्ष नहीं हो सकता- क्योंकि हमें जिनका बोध प्रत्यक्ष होता है, वह घट के रूपादि गुणों का प्रत्यक्ष है। लेकिन घट मात्र रूप नहीं है, वह तो अनेक गुणों का समूह है जिन्हें हम नहीं जानते, रूप (आकार) तो उनमें से एक गुण है जब रूपगुण के प्रत्यक्षीकरण को घट का प्रत्यक्षीकरण मान लेते हैं और हमें कोई संशय नहीं होता, तो फिर ज्ञानगुण से आत्मा का प्रत्यक्ष क्यों नहीं मान लेते।<sup>९</sup>

आधुनिक वैज्ञानिक भी अनेक तत्त्वों का वास्तविक बोध प्रत्यक्ष नहीं कर पाते हैं जैसे ईथर; फिर भी कार्यों के आधार पर उनका अस्तित्व मानते हैं एवं स्वरूप-विवेचन भी करते हैं फिर आत्मा के चेतनात्मक कार्यों के आधार पर उसके अस्तित्व को क्यों न स्वीकार किया जाये? वस्तुतः आत्मा या चेतना के अस्तित्व का प्रश्न महत्वपूर्ण होते हुए भी विवाद का विषय नहीं है। भारतीय चिन्तकों में चार्वाक एवं बौद्ध तथा पाश्चात्य चिन्तकों में ह्यूम, जेम्स आदि जो विचारक आत्मा का निषेध करते हैं, वस्तुतः उनका निषेध आत्मा के अस्तित्व का निषेध नहीं, वरन् उसकी नित्यता का निषेध है। वे आत्मा को एक स्वतन्त्र या नित्य द्रव्य के रूप में स्वीकार नहीं करते हैं, लेकिन चेतन अवस्था या चेतना-प्रवाह के रूप में आत्मा का अस्तित्व तो उन्हें भी स्वीकार है। चार्वाक दर्शन भी यह नहीं कहता कि आत्मा का सर्वथा अभाव है, उसका निषेध मात्र आत्मा को स्वतन्त्र या मौलिक तत्त्व मानने से है। बुद्ध अनात्मवाद की प्रतिस्थापना में आत्मा (चेतना) का निषेध नहीं करते, वरन् उसकी नित्यता का निषेध करते हैं। ह्यूम भी अनुभूति से भिन्न किसी स्वतन्त्र आत्म-तत्त्व का ही निषेध करते हैं। उद्योतकर का 'न्यायवार्तिक' में यह कहना समुचित जान पड़ता है कि आत्मा के अस्तित्व के विषय में दार्शनिकों में सामान्यतः कोई विवाद

ही नहीं है, यदि विवाद है तो उसका सम्बन्ध आत्मा के विशेष स्वरूप से है न कि उसके अस्तित्व से। स्वरूप की दृष्टि से कोई शरीर को ही आत्मा मानता है, कोई बुद्धि को, कोई इन्द्रिय या मन को, और कोई विज्ञान-संघात को आत्मा समझता है। कुछ ऐसे भी व्यक्ति हैं जो इन सबसे पृथक् स्वतन्त्र आत्म-तत्त्व के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं।<sup>१०</sup> जैन दर्शन और गीता आत्मा को स्वतन्त्र द्रव्य के रूप में स्वीकार करते हैं।

### आत्मा एक मौलिक तत्त्व

आत्मा एक मौलिक तत्त्व है अथवा अन्य किसी तत्त्व से उत्पन्न हुआ है, यह प्रश्न भी महत्वपूर्ण है। सभी दर्शन यह मानते हैं कि संसार आत्म और अनात्म का संयोग है, लेकिन इनमें मूल तत्त्व क्या है? यह विवाद का विषय है। इस सम्बन्ध में चार प्रमुख धारणाएँ हैं- (१) मूल तत्त्व जड़ (अचेतन) है और उसी से चेतन की उत्पत्ति होती है। अजितकेशकम्बलिन्, चार्वाक दार्शनिक एवं भौतिकवादी इस मत का प्रतिपादन करते हैं (२) मूल तत्त्व चेतन है और उसी की अपेक्षा से जड़ की सत्ता मानी जा सकती है। बौद्ध विज्ञानवाद, शांकर वेदान्त तथा बर्कले इस मत का प्रतिपादन करते हैं। (३) कुछ विचारक ऐसे भी हैं जिन्होंने परम तत्त्व को एक मानते हुए भी उसे जड़-चेतन उभयरूप स्वीकार किया और दोनों को ही उसका पर्याय माना। गीता, रामानुज और स्पिनोजा इस मत का प्रतिपादन करते हैं। (४) कुछ विचारक जड़ और चेतन दोनों को ही परम तत्त्व मानते हैं और उनके स्वतंत्र अस्तित्व में विश्वास करते हैं। सांख्य, जैन और देकार्त इस धारणा में विश्वास करते हैं।

जैन विचारक स्पष्ट रूप से कहते हैं कि कभी भी जड़ से चेतन की उत्पत्ति नहीं होती। सूत्रकृतांग की टीका में इस मान्यता का निराकरण किया गया है। शीलाकाचार्य लिखते हैं कि "भूत समुदाय स्वतन्त्रधर्मी है, उसका गुण चैतन्य नहीं है, क्योंकि पृथ्वी आदि भूतों के अन्य पृथक्-पृथक् गुण हैं, अन्य गुणों वाले पदार्थों से या उनके समूह से भी किसी अपूर्व (नवीन) गुण की उत्पत्ति नहीं हो सकती, जैसे रुक्ष बालुक कणों के समुदाय से स्निग्ध तेल की उत्पत्ति नहीं होती। अतः चैतन्य आत्मा का ही गुण हो सकता है, भूतों का नहीं, जड़ भूतों से चेतन आत्मा की उत्पत्ति नहीं हो सकती।"<sup>११</sup> शरीर भी ज्ञानादि चैतन्य गुणों का कारण नहीं हो सकता, क्योंकि शरीर भौतिक तत्त्वों का कार्य है और भौतिक तत्त्व चेतनाशून्य हैं। जब भूतों में ही चैतन्य नहीं है तो उनके कार्य में चैतन्य कहाँ से आ जायेगा? प्रत्येक कार्य कारण में अव्यक्त रूप से रहा है। जब वह कारण कार्यरूप में परिणत होता है, तब वह शक्ति रूप से रहा हुआ कार्य व्यक्त रूप में सामने आ जाता है। जब भौतिक तत्त्वों में चेतना नहीं है, तब यह कैसे सम्भव है कि शरीर चैतन्य गुण वाला हो जाय? यदि चेतना प्रत्येक भौतिक तत्त्व में नहीं है तो उन तत्त्वों के संयोग से भी वह उत्पन्न नहीं हो सकती। रेणु की प्रत्येक कण में न रहने वाला तेल रेणु कणों के संयोग से उत्पन्न नहीं हो सकता। अतः यह कहना युक्ति-संगत नहीं है

कि चैतन्य महाभूतों के विशिष्ट संयोग से उत्पन्न होता है।<sup>१२</sup> गीता भी कहती है कि असत् का प्रादुर्भाव नहीं होता और सत् का विनाश नहीं होता है।<sup>१३</sup> यदि चैतन्य भूतों में नहीं है तो वह उनके संयोग से निर्मित शरीर में भी नहीं हो सकता। शरीर में चैतन्य की उपलब्धि होती है; अतः उसका आधार शरीर नहीं, आत्मा है। आत्मा की जड़ से भिन्नता सिद्ध करने के लिए शीलाकाचार्य एक दूसरी युक्ति प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि “पाँचों इन्द्रियों के विषय अलग-अलग हैं, प्रत्येक इन्द्रिय अपने विषय का ही ज्ञान करती है, जबकि पाँचों इन्द्रियों के विषयों का एकत्रीभूत रूप में ज्ञान करने वाला अन्य कोई अवश्य है और वह आत्मा है।”<sup>१४</sup>

इसी सम्बन्ध में आचार्य शंकर की भी एक युक्ति है, जिसके सम्बन्ध में प्रो० ए०सी० मुखर्जी ने अपनी पुस्तक ‘नेचर ऑफ सेल्फ’ में काफी प्रकाश डाला है। शंकर पूछते हैं कि भौतिकवादियों के अनुसार भूतों से उत्पन्न होने वाली उस चेतना का स्वरूप क्या है? उनके अनुसार या तो चेतना उन तत्त्वों की प्रत्यक्षकर्ता होगी या उनका ही एक गुण होगी। प्रथम स्थिति में यदि चेतना गुणों की प्रत्यक्षकर्ता होगी, तो वह उनसे प्रत्युत्पन्न नहीं होगी। दूसरे यह कहना भी हास्यास्पद होगा कि भौतिक गुण अपने ही को ज्ञान विषय-वस्तु बनाते हैं। यह मानना कि चेतना जो भौतिक पदार्थों का ही एक गुण है, उनसे ही प्रत्युत्पन्न है और उन भौतिक पदार्थों को ही अपने ज्ञान का विषय बनाती है, उतना ही हास्यास्पद है जितना यह मानना कि आग अपने को ही जलाती है अथवा नट अपने ही कंधों पर चढ़ सकता है। इस प्रकार शंकर का भी निष्कर्ष यही है कि चेतन (आत्मा) भौतिक तत्त्वों से व्यतिरिक्त और ज्ञानस्वरूप है।<sup>५</sup>

### आक्षेप एवं निराकरण

सामान्य रूप से जैन विचारणा में आत्मा या जीव को अपौद्गलिक, विशुद्ध चैतन्य एवं जड़ से भिन्न स्वतन्त्र तत्त्व या द्रव्य माना जाता है। लेकिन अन्य दार्शनिकों का आक्षेप है कि जैन दर्शन के विचार में जीव का स्वरूप बहुत कुछ पौद्गलिक बन गया है। यह आक्षेप अजैन दार्शनिकों का ही नहीं, अनेक जैन चिन्तकों का भी है और उनके लिए आगमिक आधारों पर कुछ तर्क भी प्रस्तुत किये गये हैं। पं० जुगलकिशोर मुख्तार ने इस विषय में एक प्रश्नावली भी प्रस्तुत की थी।<sup>१६</sup> यहाँ उस प्रश्नावली के कुछ प्रमुख मुद्दों पर ही चर्चा करना अपेक्षित है, जो जीव सम्बन्धी जैन दार्शनिक मान्यताओं में ही पारस्परिक अन्तर्विरोध प्रकट करते हैं-

(१) जीव यदि पौद्गलिक नहीं है तो उसमें सौक्ष्म्य-स्थौल्य अथवा संकोच-विस्तार क्रिया और प्रदेश परिस्पन्द कैसे बन सकता है? जैन विचारणा के अनुसार तो सौक्ष्म्य-स्थौल्य को पुद्गल की पर्याय माना गया है।

(२) जीव के अपौद्गलिक होने पर, आत्मा में पदार्थों का प्रतिबिम्बित होना भी कैसे बन सकता है? क्योंकि प्रतिबिम्ब का ग्राहक

पुद्गल ही होता है। जैन विचारणा में ज्ञान की उत्पत्ति पदार्थों के आत्मा में प्रतिबिम्बित होने से ही मानी गयी है।

(३) अपौद्गलिक और अमूर्तिक आत्मा पौद्गलिक एवं मूर्तिक कर्मों के साथ बद्ध होकर विकारी होना कैसे सम्भव हो सकता है? (इस प्रकार के बन्ध का कोई दृष्टान्त भी उपलब्ध नहीं है) स्वर्ण और पाषाण के अनादिबन्ध का जो दृष्टान्त दिया जाता है, वह विषम दृष्टान्त है और एक प्रकार से स्वर्णस्थानी जीव का पौद्गलिक होना ही सूचित करता है।

(४) रागादिक को पौद्गलिक कहा गया है और रागादिक जीव के परिणाम हैं- बिना जीव के उनका अस्तित्व नहीं। (यदि जीव पौद्गलिक नहीं है, तो भाव रागादि पौद्गलिक कैसे सिद्ध हो सकेंगे?) इसके सिवाय अपौद्गलिक जीवात्मा में कृष्ण, नीलादि लेश्याएँ कैसे बन सकती हैं?

जैन दर्शन जड़ और चेतन के द्वैत को और उनकी स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार करता है। वह सभी प्रकार के अद्वैतवाद का विरोध करता है, चाहे वह शंकर का आध्यात्मिक अद्वैतवाद हो अथवा चार्वाक एवं अन्य वैज्ञानिकों का भौतिकवाद हो। लेकिन इस सैद्धान्तिक मान्यता से उपर्युक्त शंकाओं का समाधान नहीं होता। इसके लिए हमें जीव के स्वरूप को उस सन्दर्भ में देखना होगा जिसमें उपर्युक्त शंकाएँ प्रस्तुत की गयी हैं। प्रथमतः संकोच-विस्तार तथा उसके आधार पर होने वाले सौक्ष्म्य एवं स्थौल्य तथा बन्धन और रागादिभाव का होना सभी बद्ध जीवात्माओं या हमारे वर्तमान सीमित व्यक्तित्व के कारण हैं। जहाँ तक सीमित व्यक्तित्व या बद्ध जीवात्मा का प्रश्न है, वह एकान्त रूप से न तो भौतिक है और न अभौतिक। जैन चिन्तक मुनि नथमल जी इन्हीं प्रश्नों का समाधान करते हुए लिखते हैं कि “मेरी मान्यता यह है कि हमारा वर्तमान व्यक्तित्व न सर्वथा पौद्गलिक है और न सर्वथा अपौद्गलिक। यदि उसे सर्वथा पौद्गलिक मानें तो उसमें चैतन्य नहीं हो सकता और उसे सर्वथा अपौद्गलिक मानें तो उसमें संकोच-विस्तार, प्रकाशमय, अनुभव, ऊर्ध्वगामीधर्मिता, रागादि नहीं हो सकते। मैं जहाँ तक समझ सकता हूँ, कोई भी शरीरधारी जीव अपौद्गलिक नहीं है। जैन आचार्यों ने उसमें संकोच-विस्तार, बन्धन आदि माने हैं, अपौद्गलिकता उसकी अन्तिम परिणति है जो शरीर-मुक्ति से पहले कभी प्राप्त नहीं होती।”<sup>१७</sup> मुनि जी के इस कथन को अधिक स्पष्ट रूप में यों कहा जा सकता है कि जीव के अपौद्गलिक स्वरूप उसकी उपलब्धि नहीं, आदर्श है। जैन दर्शन का लक्ष्य इसी अपौद्गलिक स्वरूप की उपलब्धि है। जीव की अपौद्गलिकता आदर्श है, जागतिक तथ्य नहीं, जबकि ये सभी बातें बद्धजीवों में ही पायी जाती हैं।

### आत्मा और शरीर में सम्बन्ध

महावीर के सम्मुख जब यह प्रश्न उपस्थित किया गया कि “भगवान्-जीव वही है जो शरीर है या जीव भिन्न है और शरीर भिन्न है?” महावीर ने उत्तर दिया- “हे गौतम! जीव शरीर भी है और शरीर से भिन्न भी है।”<sup>१८</sup> इस प्रकार महावीर ने आत्मा और देह के मध्य

भिन्नत्व और एकत्व दोनों को स्वीकार किया। आचार्य कुन्दकुन्द ने आत्मा और शरीर के एकत्व और भिन्नत्व को लेकर यही विचार प्रकट किये हैं। आचार्य कुन्दकुन्द का कथन है कि व्यावहारिक दृष्टि से आत्मा और देह एक ही है, लेकिन निश्चय दृष्टि से आत्मा और देह कदापि एक नहीं हो सकते।<sup>१९</sup> वस्तुतः आत्मा और शरीर में एकत्व माने बिना स्तुति, वन्दन, सेवा आदि अनेक नैतिक आचरण की क्रियाएँ सम्भव नहीं हो सकतीं। दूसरी ओर आत्मा और देह में भिन्नता माने बिना आसक्तिनाश और भेदविज्ञान की सम्भावना नहीं हो सकती। नैतिक और धार्मिक साधना की दृष्टि से आत्मा का शरीर से एकत्व और अनेकत्व दोनों अपेक्षित हैं। यही जैन नैतिकता की मान्यता है। महावीर ने ऐकान्तिक वादों को छोड़कर अनैकान्तिक-दृष्टि को स्वीकार किया और दोनों वादों का समन्वय किया। उन्होंने कहा कि आत्मा और शरीर कथंचित् भिन्न हैं और कथंचित् अभिन्न हैं।

### आत्मा परिणामी है

जैन दर्शन आत्मा को परिणामी मानता है, जबकि सांख्य एवं शांकर वेदान्त आत्मा को अपरिणामी (कूटस्थ) मानते हैं। बुद्ध के समकालीन विचारक पूर्णकाश्यप भी आत्मा को अपरिणामी मानते थे। आत्मा को अपरिणामी (कूटस्थ) मानने का तात्पर्य यह है कि आत्मा में कोई विकार, परिवर्तन या स्थित्यन्तर नहीं होता।

जैन आचार सम्बन्धी ग्रन्थों में यह वचन बहुतायत से उपलब्ध होते हैं कि आत्मा कर्ता है। उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि आत्मा ही सुखों और दुःखों का कर्ता और भोक्ता है।<sup>२०</sup> यह भी कहा गया है कि सिर काटने वाला शत्रु भी उतना अपकार नहीं करता जितना दुराचरण में प्रवृत्त अपनी आत्मा करती है।<sup>२१</sup>

यही नहीं, सूत्रकृतांग में आत्मा को अकर्ता मानने वाले लोगों की आलोचना करते हुए स्पष्ट रूप में कहा गया है—“कुछ दूसरे (लोग) तो धृष्टतापूर्वक कहते हैं कि करना, कराना आदि क्रिया आत्मा नहीं करता, वह तो अकर्ता है। इन वादियों को सत्य ज्ञान का पता नहीं और न उन्हें धर्म का ही भान है।<sup>२२</sup> उत्तराध्ययनसूत्र में शरीर को नाव और जीव को नाविक कहकर जीव पर नैतिक कर्मों का उत्तरदायित्व डाला गया है।<sup>२३</sup>

### आत्मा भोक्ता है

यदि आत्मा को कर्ता मानना आवश्यक है तो उसे भोक्ता भी मानना पड़ेगा। क्योंकि जो कर्मों का कर्ता है उसे ही उनके फलों का भोग भी करना चाहिए। जैसे आत्मा का कर्तृत्व कर्मपुद्गलों के निमित्त से सम्भव है, वैसे ही आत्मा का भोक्तृत्व भी कर्मपुद्गलों के निमित्त से ही सम्भव है। कर्तृत्व और भोक्तृत्व दोनों ही शरीरयुक्त बद्धात्मा में पाये जाते हैं, मुक्तात्मा या शुद्धात्मा में नहीं। भोक्तृत्व वेदनीय कर्म के कारण ही सम्भव है। जैन दर्शन आत्मा का भोक्तृत्व भी सापेक्ष दृष्टि से शरीरयुक्त बद्धात्मा में स्वीकार करता है।

१. व्यावहारिक दृष्टि से शरीरयुक्त बद्धात्मा भोक्ता है।
२. अशुद्धनिश्चयनय या पर्याय दृष्टि से आत्मा अपनी मानसिक अनुभूतियों या मनोभावों का वेदक है।
३. परमार्थ दृष्टि से आत्मा भोक्ता और वेदक नहीं, मात्र द्रष्टा या साक्षीस्वरूप है।<sup>२४</sup>

आत्मा का भोक्तृत्व कर्म और प्रतिफल के संयोग के लिए आवश्यक है। जो कर्ता है, वह अनिवार्य रूप से उनके फलों का भोक्ता भी है, अन्यथा कर्म और उसके फलभोग में अनिवार्य सम्बन्ध सिद्ध नहीं हो सकेगा, ऐसी स्थिति में धर्म एवं नैतिकता का कोई अर्थ ही नहीं रह जायेगा। अतः यह मानना होगा कि आत्मा भोक्ता है, लेकिन आत्मा का भोक्ता होना बद्धात्मा या शरीर के लिए ही समुचित है। अमुक्तात्मा भोक्ता नहीं है, वह तो मात्र साक्षीस्वरूप या द्रष्टा होता है।

### आत्मा स्वदेह परिमाण है

यद्यपि जैन विचारणा में आत्माओं को रूप, रस, गन्ध, वर्ण, स्पर्श आदि से विवर्जित कहा गया है, तथापि आत्मा को शरीरकार स्वीकार किया गया है। आत्मा के आकार के सम्बन्ध में प्रमुख रूप से दो दृष्टियाँ हैं—एक के अनुसार आत्मा विभु (सर्वव्यापी) है, दूसरी के अनुसार अणु है। सांख्य, न्याय और अद्वैत वेदान्त आत्मा को विभु मानते हैं और रामानुज अणु मानते हैं। जैन दर्शन इस सम्बन्ध में मध्यस्थ दृष्टि अपनाता है। उसके अनुसार आत्मा अणु भी है और विभु भी है। वह सूक्ष्म है तो इतना है कि एक आकाश प्रदेश के अनन्तवें भाग में समा सकता है और विभु है तो इतना है कि समग्र लोक को व्याप्त कर सकता है।<sup>२५</sup> जैन दर्शन आत्मा में संकोच विस्तार को स्वीकार करता है और इस आधार पर आत्मा को स्वदेह-परिमाण मानता है। जैसे दीपक का प्रकाश छोटे कमरे में रहने पर छोटे कमरे को और बड़े कमरे में रहने पर बड़े कमरे को प्रकाशित करता है वैसे ही आत्मा भी जिस देह में रहता है उसे चैतन्याभिभूत कर देता है, किन्तु यह बात केवल संसारी आत्मा के सम्बन्ध में है। मुक्तात्मा का आकार अपने त्यक्त देह का दो तिहाई होता है।

### आत्मा के विभुत्व की समीक्षा

१. यदि आत्मा विभु (सर्वव्यापक) है तो वह दूसरे शरीरों में भी होगा, फिर उन शरीरों के कर्मों के लिए उत्तरदायी होगा। यदि यह माना जाये कि आत्मा दूसरे शरीरों में नहीं है, तो फिर वह सर्वव्यापक नहीं होगा।
२. यदि आत्मा विभु है तो दूसरे शरीरों में होने वाले सुख-दुःख के भोग से कैसे बच सकेगा?
३. विभु आत्मा के सिद्धान्त में कौन आत्मा किस शरीर का नियामक है, यह बताना कठिन है। वस्तुतः नैतिक और धार्मिक जीवन के लिए प्रत्येक शरीर में एक आत्मा का सिद्धान्त ही संगत हो सकता है, ताकि उस शरीर के कर्मों के आधार पर उसे उत्तरदायी

उहराया जा सके।

४. आत्मा की सर्वव्यापकता का सिद्धान्त अनेकात्मवाद के साथ कथमपि संगत नहीं हो सकता। साथ ही अनेकात्मवाद के अभाव में नैतिक जीवन की सुसंगत व्याख्या भी सम्भव नहीं।

### आत्माएँ अनेक हैं

आत्मा एक है या अनेक-यह दार्शनिक दृष्टि से विवाद का विषय रहा है। जैन दर्शन के अनुसार आत्माएँ अनेक हैं और प्रत्येक शरीर की आत्मा भिन्न है। यदि आत्मा को एक माना जाता है तो नैतिक दृष्टि से निम्न अनेक समस्याएँ उत्पन्न हो जाती हैं-

### एकात्मवाद की समीक्षा

१. आत्मा को एक मानने पर सभी जीवों की मुक्ति और बन्धन एक साथ होंगे। इतना ही नहीं सभी शरीरधारियों के नैतिक विकास एवं पतन की विभिन्न अवस्थाएँ भी युगपद् होंगी। लेकिन ऐसा तो दिखता नहीं। सब प्राणियों का आध्यात्मिक एवं नैतिक विकास का स्तर अलग-अलग है। यह भी माना जाता है कि अनेक व्यक्ति मुक्त हो चुके हैं और अनेक अभी बंधन में हैं। अतः आत्माएँ एक नहीं, अनेक हैं।

२. आत्मा को एक मानने पर वैयक्तिक नैतिक प्रयासों का मूल्य समाप्त हो जायेगा। यदि आत्मा एक ही है तो व्यक्तिगत प्रयासों एवं क्रियाओं से न तो उसकी मुक्ति सम्भव होगी न वह बन्धन में ही आयेगा।

३. आत्मा के एक मानने पर नैतिक उत्तरदायित्व तथा तज्जनित पुरस्कार और दण्ड की व्यवस्था का भी कोई अर्थ नहीं रह जायेगा। सारांश में आत्मा को एक मानने पर वैयक्तिकता समाप्त हो जाती है और वैयक्तिकता के अभाव में नैतिक विकास, नैतिक उत्तरदायित्व और पुरुषार्थ आदि नैतिक प्रत्ययों का कोई अर्थ नहीं रह जाता। इसीलिये विशेषावश्यकभाष्य में कहा गया है कि सुख-दुःख जन्म-मरण, बन्धन-मुक्ति आदि के सन्तोषप्रद समाधान के लिए अनेक आत्माओं की स्वतन्त्र सत्ता मानना आवश्यक है।<sup>२६</sup> सांख्यकारिका में भी जन्म-मरण, इन्द्रियों की विभिन्नता, प्रत्येक की अलग-अलग प्रवृत्ति और स्वभाव तथा नैतिक विकास की विभिन्नता के आधार पर आत्मा की अनेकता सिद्ध की गयी है।<sup>२७</sup>

### अनेकात्मवाद की नैतिक कठिनाई

अनेकात्मवाद नैतिक जीवन के लिए वैयक्तिकता का प्रत्यय तो प्रस्तुत कर देता है, तथापि अनेक आत्माएँ मानने पर भी कुछ नैतिक कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं। इन नैतिक कठिनाइयों में प्रमुखतम यह है कि नैतिकता का समग्र प्रयास जिस अहं के विसर्जन के लिए है उसी अहं (वैयक्तिकता) को ही यह आधारभूत बना देता है। अनेकात्मवाद में वैयक्तिकता कभी भी पूर्णतया विसर्जित नहीं हो

सकती। इसी वैयक्तिकता से राग और आसक्ति का जन्म होता है, जो तृष्णा का ही एक रूप है, 'मैं' भी बन्धन ही है।

### जैन दर्शन का निष्कर्ष

जैन दर्शन ने इस समस्या का भी अनेकान्तदृष्टि से सुन्दर हल प्रस्तुत किया है। उसके अनुसार आत्मा एक भी है और अनेक भी। समवायांग और स्थानांगसूत्र में कहा गया है कि आत्मा एक है।<sup>२८</sup> अन्यत्र उसे अनेक भी कहा गया है।<sup>२९</sup> टीकाकारों ने इसका समाधान इस प्रकार किया कि आत्मा द्रव्यापेक्षा से एक है और पर्यायापेक्षा से अनेक, जैसे सिन्धु का जल न एक है और न अनेक। वह जल-राशि की दृष्टि से एक है और जल-बिन्दुओं की दृष्टि से अनेक भी। समस्त जल-बिन्दु अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखते हुए उस जल-राशि से अभिन्न ही हैं। उसी प्रकार अनन्त चेतन आत्माएँ अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखते हुए भी अपनी चेतना स्वभाव के कारण एक चेतन आत्मद्रव्य ही हैं।<sup>३०</sup>

भगवान् महावीर ने इस प्रश्न का समाधान बड़े सुन्दर ढंग से टीकाकारों के पहले ही कर दिया था। वे सोमिल नामक ब्राह्मण को अपना दृष्टिकोण स्पष्ट करते हुए कहते हैं-“हे सोमिल ! द्रव्यदृष्टि से मैं एक हूँ, ज्ञान और दर्शन रूप दो पर्यायों की प्रधानता से मैं दो हूँ। कभी न्यूनाधिक नहीं होने वाले आत्म-प्रदेशों की दृष्टि से मैं अक्षय हूँ, अव्यय हूँ, अवस्थित हूँ। तीनों कालों में बदलते रहने वाले उपयोग स्वभाव की दृष्टि से मैं अनेक हूँ।”<sup>३१</sup>

इस प्रकार भगवान् महावीर जहाँ एक ओर द्रव्यदृष्टि (Substantial view) से आत्मा के एकत्व का प्रतिपादन करते हैं, वहीं दूसरी ओर पर्यायार्थिक-दृष्टि से एक ही जीवात्मा में चेतन पर्यायों के प्रवाह के रूप से अनेक व्यक्तियों की संकल्पना को भी स्वीकार कर शंकर के अद्वैतवाद और बौद्धों के क्षणिक आत्मवाद की खाई को पाटने की कोशिश करते हैं।

जैन विचारक आत्माओं में गुणात्मक अन्तर नहीं मानते हैं। लेकिन विचार की दिशा में केवल सामान्य दृष्टि से काम नहीं चलता, विशेष दृष्टि का भी अपना स्थान है। सामान्य और विशेष के रूप में विचार की दो दृष्टियाँ हैं और दोनों का अपना महत्त्व है। महासागर की जल-राशि सामान्य दृष्टि से एक है, लेकिन विशेष दृष्टि से नहीं, जल-राशि अनेक जल-बिन्दुओं का समूह प्रतीत होती है। यही बात आत्मा के विषय में है। चेतना पर्यायों की विशेष दृष्टि से आत्मा अनेक है और चेतना द्रव्य की दृष्टि से आत्मा एक है जैन दर्शन के अनुसार आत्म द्रव्य एक है, लेकिन उसमें अनन्त वैयक्तिक आत्माओं की सत्ता है। इतना ही नहीं, प्रत्येक वैयक्तिक आत्मा भी अपनी परिवर्तनशील चैतसिक अवस्थाओं के आधार पर स्वयं भी एक स्थिर इकाई न होकर प्रवाहशील इकाई है। जैन दर्शन यह मानता है कि आत्मा का चरित्र या व्यक्तित्व परिवर्तनशील है, वह देशकालगत परिस्थितियों में बदलता रहता है, फिर भी वही रहता है। हमारे में भी अनेक व्यक्तित्व बनते और बिगड़ते रहते हैं फिर भी वे हमारे ही अंग हैं। इस आधार पर हम उनके

लिए उत्तरदायी बने रहते हैं। इस प्रकार जैन दर्शन अभेद में भेद, एकत्व में अनेकत्व की धारणा को स्थान देकर धर्म और नैतिकता के लिए एक ठोस आधार प्रस्तुत करता है।

जैन दर्शन जिन्हें जीव की पर्याय अवस्थाओं की धारा कहता है, बौद्ध दर्शन उसे चित्त-प्रवाह कहता है। जिस प्रकार जैन दर्शन में प्रत्येक जीव अलग है, उसी प्रकार बौद्ध दर्शन में प्रत्येक चित्त-प्रवाह अलग है। जैसे बौद्ध दर्शन के विज्ञानवाद में आलयविज्ञान है वैसे जैन दर्शन में आत्म-द्रव्य है, यद्यपि हमें इन सबमें रहे हुए तात्त्विक अन्तर को विस्मृत नहीं करना चाहिए।

### आत्मा के भेद

जैन दर्शन अनेक आत्माओं की सत्ता को स्वीकार करता है। इतना ही नहीं, वह प्रत्येक आत्मा की विभिन्न अवस्थाओं के आधार पर उसके भेद करता है। जैन आगमों में विभिन्न पक्षों की अपेक्षा से आत्मा के आठ भेद किये गये हैं<sup>३२</sup>

१. द्रव्यात्मा-आत्मा का तात्त्विक स्वरूप।
२. कषायात्मा-क्रोध, मान, माया आदि कषायों या मनोवेगों से युक्त चेतना की अवस्था।
३. योगात्मा-शरीर से युक्त होने पर चेतना की कायिक, वाचिक और मानसिक क्रियाओं की अवस्था।
४. उपयोगात्मा-आत्मा की ज्ञानात्मक और अनुभूत्यात्मक शक्तियाँ। यह आत्मा का चेतनात्मक व्यापार है।
५. ज्ञानात्मा-चेतना की चिन्तन की शक्ति।
६. दर्शनात्मा-चेतना की अनुभूत्यात्मकशक्ति।
७. चरित्रात्मा-चेतना की संकल्पात्मक शक्ति।
८. वीर्यात्मा-चेतना की क्रियात्मक शक्ति।

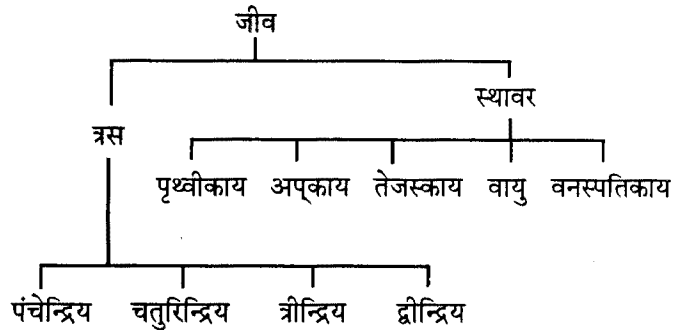
उपर्युक्त आठ प्रकारों में द्रव्यात्मा, उपयोगात्मा, ज्ञानात्मा और दर्शनात्मा ये चार तात्त्विक आत्मा के स्वरूप के ही द्योतक हैं, शेष चार कषायात्मा, योगात्मा, चरित्रात्मा और वीर्यात्मा ये चारों आत्मा के अनुभवाधारित स्वरूप के निदर्शक हैं। तात्त्विक आत्मा द्रव्य की अपेक्षा से नित्य होती है यद्यपि उसमें ज्ञानादि की पर्यायें होती रहती हैं। अनुभवाधारित आत्मा चेतना की शरीर से युक्त अवस्था है। यह परिवर्तनशील एवं विकारयुक्त होती है। आत्मा के बन्धन का प्रश्न भी इसी अनुभवाधारित आत्मा से सम्बन्धित है। विभिन्न दर्शनों में आत्मा-सिद्धान्त के सन्दर्भ में जो परस्परिक विरोध दिखाई देता है, वह आत्मा के इन दो पक्षों में किसी पक्ष-विशेष पर बल देने के कारण होता है। भारतीय परम्परा में बौद्ध दर्शन ने आत्मा के अनुभवाधारित परिवर्तनशील पक्ष पर अधिक बल दिया, जबकि सांख्य और शांकर वेदान्त ने आत्मा के तात्त्विक स्वरूप पर ही अपनी दृष्टि केन्द्रित की। जैन दर्शन दोनों ही पक्षों को स्वीकार कर उनके बीच समन्वय का कार्य करता है।

### विवेक-क्षमता के आधार पर आत्मा के भेद

विवेक-क्षमता की दृष्टि से आत्माएँ दो प्रकार की मानी गई हैं- (१) समनस्क, (२) अमनस्क। समनस्क आत्माएँ वे हैं, जिन्हें विवेक-क्षमता से युक्त मन उपलब्ध है और अमनस्क आत्माएँ वे हैं, जिन्हें ऐसी विवेक-क्षमता से युक्त मन उपलब्ध नहीं है। जहाँ तक नैतिक जीवन के क्षेत्र का प्रश्न है, समनस्क आत्माएँ ही नैतिक आचरण कर सकती हैं और वे ही नैतिक साध्य की उपलब्धि कर सकती हैं, क्योंकि विवेक-क्षमता से युक्त मन की उपलब्धि होने पर ही आत्मा में शुभाशुभ का विवेक करने की क्षमता होती है, साथ ही इसी विवेक-बुद्धि के आधार पर वे वासनाओं का संयमन भी कर सकती हैं। जिन आत्माओं में ऐसी विवेक-क्षमता का अभाव है, उनमें संयम की क्षमता का भी अभाव होता है, इसलिए वे नैतिक प्रगति भी नहीं कर सकतीं। नैतिक जीवन के लिए आत्मा में विवेक और संयम दोनों का होना आवश्यक है और वह केवल पंचेन्द्रिय जीवों में भी उन्हीं में सम्भव है जो समनस्क हैं। यहाँ जैविक आधार पर भी आत्मा के वर्गीकरण पर विचार अपेक्षित है, क्योंकि जैन धर्म का अहिंसा-सिद्धान्त बहुत कुछ उसी पर निर्भर है।

### जैविक आधार पर प्राणियों का वर्गीकरण

जैन दर्शन के अनुसार जैविक आधार पर प्राणियों का वर्गीकरण निम्न तालिका से स्पष्ट हो सकता है-



जैविक दृष्टि से जैन परम्परा में दस प्राण शक्तियाँ मानी गयी हैं। स्थायर एकेन्द्रिय जीवों में चार शक्तियाँ होती हैं- (१) स्पर्श-अनुभव शक्ति, (२) शारीरिक शक्ति, (३) जीवन (आयु) शक्ति और (४) श्वसन शक्ति। द्वीन्द्रिय जीवों में इन चार शक्तियों के अतिरिक्त स्वाद और वाणी की शक्ति भी होती है। त्रीन्द्रिय जीवों में सूँघने की शक्ति भी होती है। चतुरिन्द्रिय जीवों में इन छह शक्तियों के अतिरिक्त देखने की सामर्थ्य भी होती है। पंचेन्द्रिय अमनस्क जीवों में इन आठ शक्तियों के साथ-साथ श्रवण शक्ति भी होती है और समनस्क पंचेन्द्रिय जीवों में इनके अतिरिक्त मनःशक्ति भी होती है। इस प्रकार जैन दर्शन में कुल दस जैविक शक्तियाँ या प्राण शक्तियाँ मानी गयी हैं। हिंसा-अहिंसा के

अल्पत्व और बहुत्व आदि का विचार इन्हीं जैविक शक्तियों की दृष्टि से किया जाता है। जितनी अधिक प्राण शक्तियों से युक्त प्राणी की हिंसा की जाती है, वह उतनी ही भयंकर समझी जाती है।

### गतियों के आधार पर जीवों का वर्गीकरण

जैन परम्परा में गतियों के आधार पर जीव चार प्रकार के माने गए हैं- (१) देव, (२) मनुष्य, (३) पशु (तिर्यच) और (४) नारक। जहाँ तक शक्ति और क्षमता का प्रश्न है देव का स्थान मनुष्य से ऊँचा माना गया है। लेकिन जहाँ तक नैतिक साधना की बात है जैन परम्परा मनुष्य-जन्म को ही सर्वश्रेष्ठ मानती है। उसके अनुसार मानव-जीवन ही ऐसा जीवन है जिससे मुक्ति या नैतिक पूर्णता प्राप्त की जा सकती है। जैन परम्परा के अनुसार केवल मनुष्य ही सिद्ध हो सकता है, अन्य कोई नहीं। बौद्ध परम्परा में भी उपर्युक्त चारों जातियाँ स्वीकृत रही हैं लेकिन उनमें देव और मनुष्य दोनों में ही मुक्त होने की क्षमता को मान लिया गया है। बौद्ध परम्परा के अनुसार एक देव बिना मानव जन्म ग्रहण किये देव गति से सीधे ही निर्वाण प्राप्त कर सकता है, जबकि जैन परम्परा के अनुसार केवल मनुष्य ही निर्वाण का अधिकारी है। इस प्रकार जैन परम्परा मानव-जन्म को चरम मूल्यवान बना देती है।

### आत्मा की अमरता

आत्मा की अमरता का प्रश्न नैतिकता की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। पाश्चात्य विचारक कांट आत्मा की अमरता को नैतिक जीवन की सुसंगत व्याख्या के लिए आवश्यक मानते हैं। भारतीय आचारदर्शनों के प्राचीन युग में आत्मा की अमरता का सिद्धान्त विवाद का विषय रहा है। उस युग में यह प्रश्न आत्मा की नित्यता एवं अनित्यता के रूप में अथवा शाश्वतवाद और उच्छेदवाद के रूप में बहुचर्चित रहा है। वस्तुतः आत्म-अस्तित्व को लेकर दार्शनिकों में इतना विवाद नहीं है, विवाद का विषय है-आत्मा की नित्यता और अनित्यता। यह विषय तत्त्वज्ञान की अपेक्षा नैतिक दर्शन से अधिक सम्बन्धित है। जैन विचारकों ने नैतिक व्यवस्था को प्रमुख मानकर उसके आधार पर ही नित्यता और अनित्यता की समस्या का हल खोजने की कोशिश की। अतः यह देखना भी उपयोगी होगा कि आत्मा को नित्य अथवा अनित्य मानने पर नैतिक दृष्टि से कौन-सी कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं।

### आत्मा की नित्यानित्यात्मकता

जैन विचारकों ने संसार और मोक्ष की उपपत्ति के लिए न तो नित्य-आत्मवाद को उपयुक्त समझा और न अनित्य-आत्मवाद को। एकान्त नित्यवाद और एकान्त अनित्यवाद दोनों ही सदोष हैं। आचार्य हेमचन्द्र दोनों को नैतिक दर्शन की दृष्टि से अनुपयुक्त बताते हुए लिखते हैं, यदि आत्मा को एकान्त नित्य मानें तो इसका अर्थ होगा कि आत्मा में अवस्थान्तर अथवा स्थित्यन्तर नहीं होता। यदि इसे एकान्त अनित्य मान लिया जाये तो सुख-दुःख, शुभ-अशुभ आदि भिन्न-भिन्न

अवस्थाएँ आत्मा में घटित नहीं होंगी। फिर स्थित्यन्तर या भिन्न-भिन्न परिणामों, शुभाशुभ भावों की शक्यता न होने से पुण्य-पाप की विभिन्न वृत्तियाँ एवं प्रवृत्तियाँ भी सम्भव नहीं होंगी, न बन्धन और मोक्ष की उपपत्ति ही सम्भव होगी। क्योंकि वहाँ एक क्षण के पर्याय ने जो कार्य किया था, उसका फल दूसरे क्षण के पर्याय को मिलेगा, क्योंकि वहाँ उन सतत परिवर्तनशील पर्यायों के मध्य कोई अनुस्यूत एक स्थायी तत्त्व (द्रव्य) नहीं है, अतः यह कहा जा सकेगा कि जिसने किया था उसे फल नहीं मिला और जिसने नहीं किया था उसे मिला, अर्थात् नैतिक कर्म सिद्धान्त की दृष्टि से अकृतागम और कृतप्रणाश का दोष होगा,<sup>३३</sup> अतः आत्मा को नित्य मानकर भी सतत परिवर्तनशील (अनित्य) माना जाये तो उसमें शुभाशुभ आदि विभिन्न भावों की स्थिति मानने के साथ ही उसके फलों का भावान्तर में भोग भी सम्भव हो सकेगा। इस प्रकार जैन दर्शन सापेक्ष रूप से आत्मा को नित्य और अनित्य दोनों स्वीकार करता है।

उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि आत्मा अमूर्त होने के कारण नित्य है।<sup>३२</sup> भगवतीसूत्र में भी जीव को अनादि, अनिधन, अविनाशी, अक्षय, ध्रुव और नित्य कहा गया है।<sup>३५</sup> लेकिन सब स्थानों पर नित्यता का अर्थ परिणामी नित्यता ही समझना चाहिए। भगवतीसूत्र एवं विशेषावश्यकभाष्य में इस बात को स्पष्ट कर दिया गया है। भगवतीसूत्र में भगवान् महावीर ने गौतम के प्रश्न का उत्तर देते हुए आत्मा को शाश्वत और अशाश्वत दोनों कहा है-

“भगवान् ! जीव शाश्वत है या अशाश्वत ?”

“गौतम ! जीव शाश्वत (नित्य) भी है और अशाश्वत (अनित्य) भी।”

“भगवान् ! यह कैसे कहा गया कि जीव नित्य भी है, अनित्य भी ?”

“गौतम ! द्रव्य की अपेक्षा से नित्य है, भाव की अपेक्षा से अनित्य।”<sup>३६</sup>

आत्मा-द्रव्य (सत्ता) की ओर से नित्य है अर्थात् आत्मा न तो कभी अनात्म (जड़) से उत्पन्न होती है और न किसी भी अवस्था में अपने चेतना लक्षण को छोड़कर जड़ बनती है। इसी दृष्टि से उसे नित्य कहा जाता है। लेकिन आत्मा की मानसिक अवस्थाएँ परिवर्तित होती रहती हैं, अतः इस अपेक्षा से उसे अनित्य कहा गया है। आधुनिक दर्शन की भाषा में जैन दर्शन के अनुसार तात्त्विक आत्मा नित्य है और अनुभवाधारित आत्मा अनित्य है। जिस प्रकार स्वर्णाभूषण स्वर्ण की दृष्टि से नित्य और आभूषण की दृष्टि से अनित्य है, उसी प्रकार आत्म आत्मा-तत्त्व की दृष्टि से नित्य और विचारों और भावों की दृष्टि से अनित्य है।

जमाली के साथ हुए प्रश्नोत्तर में भगवान् महावीर ने अपने इस दृष्टिकोण को स्पष्ट कर दिया है कि वे किस अपेक्षा से जीव को नित्य मानते हैं और किस अपेक्षा से अनित्य। भगवान् महावीर कहते हैं-“हे जमाली, जीव शाश्वत है, तीनों कालों में ऐसा कोई समय नहीं है जब यह जीव (आत्मा) नहीं था, नहीं है, अथवा नहीं होगा। इसी अपेक्षा से यह जीवात्मा, नित्य, ध्रुव, शाश्वत, अक्षय और अव्यय है। हे जमाली, जीव अशाश्वत है, क्योंकि नारक मरकर तिर्यच होता है,

तिर्यच मरकर मनुष्य होता है, मनुष्य मरकर देव होता है। इस प्रकार इन नानावस्थाओं को प्राप्त करने के कारण उसे अनित्य कहा जाता है।<sup>३७</sup> नैतिक विचारणा की दृष्टि से आत्मा को नित्यानित्य (परिणामी नित्य) मानना ही समुचित है। नैतिकता की धारणा में जो विरोधाभास है, उसका निराकरण केवल परिणामीनित्य आत्मवाद में ही सम्भव है। नैतिकता का विरोधाभास यह है कि जहाँ नैतिकता के आदर्श के रूप में जिस आत्म-तत्त्व की विवक्षा है उसे नित्य, शाश्वत, अपरिवर्तनशील, सदैव समरूप में स्थित, निर्विकार होना चाहिए अन्यथा पुनः बन्धन एवं पतन की सम्भावनाएँ उठ खड़ी होंगी, वहीं दूसरी ओर नैतिकता की व्याख्या के लिए जिस आत्म-तत्त्व की विवक्षा है उसे कर्ता, भोक्ता, वेदक एवं परिवर्तनशील होना चाहिए अन्यथा कर्म और उनके प्रतिफल और साधना की विभिन्न अवस्थाओं की तरतमता की उपपत्ति नहीं होगी। जैन विचारकों ने इस विरोधाभास की समस्या के निराकरण का प्रयास किया है। प्रथमतः उन्होंने एकान्त नित्यात्मवाद और अनित्यात्मवाद के दोषों को स्पष्ट कर उनका निराकरण किया, फिर यह बताया है कि विरोधाभास तो तब होता है जब नित्यता और अनित्यता को एक ही दृष्टि से माना जाय। लेकिन जब विभिन्न दृष्टियों से नित्यता और अनित्यता का कथन किया जाता है, तो उसमें कोई विरोधाभास नहीं रहता है। जैन दर्शन आत्मा को पर्यायार्थिक दृष्टि (व्यवहारनय) की अपेक्षा से अनित्य तथा द्रव्यार्थिक दृष्टि (निश्चयनय) की अपेक्षा से नित्य मानकर अपनी आत्मा सम्बन्धी अवधारणा का प्रतिपादन करता है।

### आत्मा की अमरता और पुनर्जन्म

आत्मा की अमरता के साथ पुनर्जन्म का प्रत्यय जुड़ा हुआ है। भारतीय दर्शनों में चार्वाक को छोड़कर शेष सभी दर्शन पुनर्जन्म के सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं। जब आत्मा को अमर मान लिया जाता है, तो पुनर्जन्म को स्वीकार करना ही होगा। गीता कहती है-“जिस प्रकार मनुष्य वस्त्रों के जीर्ण हो जाने पर उनका परित्याग कर नये वस्त्र ग्रहण करता रहता है, वैसे ही आत्मा भी जीर्ण शरीर को छोड़कर नया शरीर ग्रहण करती रहती है।” न केवल गीता में, वरन् बौद्ध दर्शन में भी इसी आशय का प्रतिपादन किया गया है।<sup>३८</sup> डॉ० रामानन्द तिवारी पुनर्जन्म के पक्ष में लिखते हैं कि “एक जन्म के सिद्धान्त के अनुसार चिरन्तन आत्मा और नश्वर शरीर का सम्बन्ध एक-काल विशेष में आरम्भ होकर एक-काल विशेष में ही अन्त हो जाता है, किन्तु चिरन्तन का कालिक सम्बन्ध अन्याय (तर्क विरुद्ध) है और इस (एक-जन्म के) सिद्धान्त से उनका कोई समाधान नहीं है-पुनर्जन्म का सिद्धान्त जीवन की एक न्यायसंगत और नैतिक व्याख्या देना चाहता है। एक-जन्म सिद्धान्त के अनुसार जन्मकाल में भागदयों के भेद को अकारण एवं संयोगजन्य मानना होगा।”<sup>३९</sup>

डॉ० मोहनलाल मेहता कर्म सिद्धान्त के आधार पर पुनर्जन्म के सिद्धान्त का समर्थन करते हैं। उनके शब्दों में-“कर्म सिद्धान्त

अनिवार्य रूप से पुनर्जन्म के प्रत्यय से संलग्न है, पूर्ण विकसित पुनर्जन्म सिद्धान्त के अभाव में कर्म सिद्धान्त अर्थशून्य है।”<sup>४०</sup> आचारदर्शन के क्षेत्र में यद्यपि पुनर्जन्म सिद्धान्त और कर्म सिद्धान्त एक-दूसरे के अति निकट हैं, फिर भी धार्मिक क्षेत्र में विकसित हुए आचारदर्शनों ने कर्म को स्वीकार करते हुए भी पुनर्जन्म को स्वीकार नहीं किया है। कट्टर पाश्चात्य निरीश्वरवादी दार्शनिक नित्शे ने कर्म-शक्ति और पुनर्जन्म पर जो विचार व्यक्त किये हैं, वे महत्वपूर्ण हैं। वे लिखते हैं- “कर्म-शक्ति के जो हमेशा रूपान्तर हुआ करते हैं, वे मर्यादित हैं तथा काल अनन्त हैं इसलिए कहना पड़ता है कि जो नामरूप एक बार हो चुके हैं वही फिर आगे यथापूर्व कभी न कभी अवश्य उत्पन्न होते ही हैं।”<sup>४१</sup>

ईसाई और इस्लाम आचारदर्शन यह तो मानते हैं कि व्यक्ति अपने नैतिक शुभाशुभ कृत्यों का फल अनिवार्य रूप से प्राप्त करता है और यदि वह अपने कृत्यों के फलों को इस जीवन में पूर्णतया नहीं भोग पाता है तो मरण के बाद उनका फल भोगता है, लेकिन फिर भी वे पुनर्जन्म को स्वीकार नहीं करते हैं। उनकी मान्यता के अनुसार, व्यक्ति को सृष्टि के अनन्त में अपने कृत्यों की शुभाशुभता के अनुसार हमेशा के लिए स्वर्ग या किसी निश्चित समय के लिए नरक में भेज दिया जाता है, वहाँ व्यक्ति अपने कृत्यों का फल भोगता रहता है, इस प्रकार वे कर्म सिद्धान्त को मानते हुए भी पुनर्जन्म को स्वीकार नहीं करते हैं।

जो विचारणाएँ कर्म सिद्धान्त को स्वीकार करने पर भी पुनर्जन्म को नहीं मानती हैं, वे इस तथ्य की व्याख्या करने में समर्थ नहीं हो पाती हैं कि वर्तमान जीवन में जो नैसर्गिक वैषम्य है उसका कारण क्या है? क्यों एक प्राणी सम्पन्न एवं प्रतिष्ठित कुल में जन्म लेता है अथवा जन्मना ऐन्द्रिक एवं बौद्धिक क्षमता से युक्त होता है और क्यों दूसरा दरिद्र एवं हीन कुल में जन्म लेता है और जन्मना हीनेन्द्रिय एवं बौद्धिक दृष्टि से पिछड़ा हुआ होता है? क्यों एक प्राणी का मनुष्य-शरीर मिलता है और दूसरे को पशु-शरीर मिलता है? यदि इसका कारण ईश्वरेच्छा है तो ईश्वर अन्यायी सिद्ध होता है। दूसरे, व्यक्ति को अपनी अक्षमताओं और उनके कारण उत्पन्न अनैतिक कृत्यों के लिए उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकेगा। खानाबदोश जातियों में जन्म लेने वाला बालक संस्कारवश जो अनैतिक आचरण का मार्ग अपनाता है, उसका उत्तरदायित्व किस पर होगा? वैयक्तिक विभिन्नताएँ ईश्वरेच्छा का परिणाम नहीं, वरन् व्यक्ति के अपने कृत्यों का परिणाम है। वर्तमान जीवन में जो भी क्षमता एवं अवसरों की सुविधा उसे अनुपलब्ध है और जिनके फलस्वरूप उसे नैतिक विकास का अवसर प्राप्त नहीं होता है उनका कारण भी वह स्वयं ही है और उत्तरदायित्व भी उसी पर है।

नैतिक विकास केवल एक जन्म की साधना का परिणाम नहीं है, वरन् उनके पीछे जन्म-जन्मान्तर की साधना होती है। पुनर्जन्म का सिद्धान्त प्राणी को नैतिक विकास हेतु अनन्त अवसर प्रदान करता है। ब्रैडले नैतिक पूर्णता की उपलब्धि को अनन्त प्रक्रिया मानते हैं।<sup>४२</sup> यदि नैतिकता आत्मपूर्णता एवं आत्म-साक्षात्कार की दिशा में सतत प्रक्रिया



है तो फिर बिना पुनर्जन्म के इस विकास की दिशा में आगे कैसे बढ़ा जा सकता है? गीता में भी नैतिक पूर्णता की उपलब्धि के लिए अनेक जन्मों की साधना आवश्यक मानी गयी है।<sup>४३</sup> डॉ० टाटिया भी लिखते हैं कि “यदि आध्यात्मिक पूर्णता (मुक्ति) एक तथ्य है तो उसके साक्षात्कार के लिए अनेक जन्म आवश्यक हैं।”<sup>४४</sup>

साथ ही आत्मा के बन्धन के कारण की व्याख्या के लिए पुनर्जन्म की धारणा को स्वीकार करना होगा, क्योंकि वर्तमान बन्धन की अवस्था का कारण भूतकालीन जीवन में ही खोजा जा सकता है।

जो दर्शन पुनर्जन्म को स्वीकार नहीं करते, वे व्यक्ति के साथ समुचित न्याय नहीं करते। अपराध के लिए दण्ड आवश्यक है, लेकिन इसका अर्थ यह तो नहीं कि विकास या सुधार का अवसर ही समाप्त कर दिया जाये। जैन दर्शन पुनर्जन्म के सिद्धान्त को स्वीकार करके व्यक्ति को नैतिक विकास के अवसर प्रदान करता है तथा अपने को एक प्रगतिशील दर्शन सिद्ध करता है। पुनर्जन्म की धारणा दण्ड के सुधारवादी सिद्धान्त का समर्थन करती है, जबकि पुनर्जन्म को नहीं मानने वाली नैतिक विचारणाएँ दण्ड के बदला लेने के सिद्धान्त का समर्थन करती हैं, जो कि वर्तमान युग में एक परम्परागत किन्तु अनुचित धारणा है।

पुनर्जन्म के विरुद्ध यह भी तर्क दिया जाता है कि यदि वही आत्मा (चेतना) पुनर्जन्म ग्रहण करती है तो फिर उसे पूर्व-जन्मों की स्मृति क्यों नहीं रहती है। स्मृति के अभाव में पुनर्जन्म को किस आधार पर माना जाये? लेकिन यह तर्क उचित नहीं है, क्योंकि हम अक्सर देखते हैं कि हमें अपने वर्तमान जीवन की अनेक घटनाओं की भी स्मृति नहीं रहती। यदि हम वर्तमान जीवन के विस्मरित भाग को स्वीकार नहीं करते हैं तो फिर केवल स्मरण के अभाव में पूर्व-जन्मों की घटनाएँ भी अचेतन स्तर पर बनी रहती हैं और विशिष्ट अवसरों पर चेतना के स्तर पर भी व्यक्त हो जाती है। यह भी तर्क दिया जाता है कि हमें अपने जिन कृत्यों की स्मृति नहीं है, हम क्यों उनके प्रतिफल का भोग करें? लेकिन यह तर्क भी समुचित नहीं है इससे क्या फर्क पड़ता है कि हमें अपने कर्मों की स्मृति है या नहीं? यह हमने उन्हें किया है तो उनका फल भोगना ही होगा। यदि कोई व्यक्ति इतना अधिक मद्यपान कर ले कि नशे में उसे अपने किये हुए मद्यपान की स्मृति भी नहीं रहे लेकिन इससे क्या वह उसके नशे से बच सकता है? जो किया है, उसका भोग अनिवार्य है, चाहे उसकी स्मृति हो या न हो।<sup>४५</sup>

जैन चिन्तकों ने इसीलिए कर्म सिद्धान्त की स्वीकृति के साथ-साथ आत्मा की अमरता और पुनर्जन्म के सिद्धान्त को स्वीकार किया है। जैन विचारणा यह स्वीकार करती है कि प्राणियों में क्षमता एवं अवसरों की सुविधा आदि का जो जन्मना नैसर्गिक वैषम्य है, उसका कारण प्राणी के अपने ही पूर्व-जन्मों के कृत्य हैं। संक्षेप में वंशानुगत एवं नैसर्गिक वैषम्य पूर्व-जन्मों के शुभाशुभ कृत्यों का फल है। यही नहीं, वरन् अनुकूल एवं प्रतिकूल परिवेश की उपलब्धि भी शुभाशुभ कृत्यों का फल है। स्थानांगसूत्र में भूत, वर्तमान और भावी

जन्मों में शुभाशुभ कर्मों के फल-सम्बन्ध की दृष्टि से आठ विकल्प माने गये हैं—(१) वर्तमान जन्म के अशुभ कर्म वर्तमान जन्म में ही फल दें। (२) वर्तमान जन्म के अशुभ कर्म भावी जन्मों में फल दें। (३) भूतकालीन जन्मों के अशुभ कर्म वर्तमान जन्म में फल दें। (४) भूतकालीन जन्मों के अशुभ कर्म भावी जन्मों में फल दें। (५) वर्तमान जन्म के शुभ कर्म वर्तमान जन्म में फल दें। (६) वर्तमान जन्म के शुभ कर्म भावी जन्मों में फल दें। (७) भूतकालीन जन्मों के शुभ कर्म वर्तमान जन्म में फल दें। (८) भूतकालीन जन्मों के शुभ कर्म भावी जन्मों में फल दें।<sup>४६</sup>

इस प्रकार जैन दर्शन में वर्तमान जीवन का सम्बन्ध भूतकालीन एवं भावी जन्मों से माना गया है। जैन दर्शन के अनुसार चार प्रकार की योनियाँ हैं—(१) देव (स्वर्गीय जीवन), (२) मनुष्य, (३) तिर्यच (वानस्पतिक एवं पशु जीवन) और (४) नरक (नारकीय जीवन)।<sup>४७</sup> प्राणी अपने शुभाशुभ कर्मों के अनुसार इन योनियों में जन्म लेता है। यदि वह शुभ कर्म करता है तो देव और मनुष्य के रूप में जन्म लेता है और अशुभ कर्म करता है तो पशु गति या नारकीय गति प्राप्त करता है। मनुष्य मरकर पशु भी हो सकता है और देव भी। प्राणी भावी जीवन में क्या होगा यह उसके वर्तमान जीवन के आचरण पर निर्भर करता है।

### संदर्भ

१. विशेषावश्यकभाष्य, १५७५
२. वही १५७१
३. जैन दर्शन महेन्द्रकुमार ‘न्यायाचार्य’ पृ० ५४
४. आचारांगसूत्र १/५/५/१६६
५. ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य-३/१/७
६. वही १/१/२
७. वही ३/२/२१, तुलनीय-आचारांग-१/५/५
८. दिवानचंद, पश्चिमी दर्शन-पृ० १०६
९. विशेषावश्यकभाष्य-१५५८
१०. न्यायवर्तिक पृ० ३६६ (आत्ममीमांसा पृ० २ पर उद्धृत)
११. सूत्रकृतांग टीका-१/१/८
१२. जैन दर्शन पृ० १५७
१३. गीता-२/१६
१४. सूत्रकृतांग टीका-१/१/८
१५. A.C. Mookerjee, Nature of self, p 141-143,
१६. अनेकान्त-जून, १९४२
१७. मुनि नथमल, ‘तट दो प्रवाह एक’ आदर्श साहित्य संघ चुरु, पृ० ५४.
१८. भगवतीसूत्र- १३/७/४९५
१९. समयसार-२७
२०. उत्तराध्ययन-२०/३७
२१. वही- २०/४८

२२. सूत्रकृतांग-१/१/१३-२१  
 २३. उत्तराध्ययन २३/३७ तुलनीय-कठोपनिषद् १/३/३  
 २४. समयसार-८१-९२  
 २५. क्रमशः निगोद और केवली समुद्घात की अवस्था में ऐसा होता है।  
 २६. विशेषावश्यकभाष्य- १५८२  
 २७. सारख्यकारिका-१८(ईश्वरकृष्ण)  
 २८. समवायांग- १/१  
 स्थानांग- १/१  
 २९. भगवतीसूत्र- २/१  
 ३०. समवायांग टीका १/१  
 ३१. भगवतीसूत्र १/८/१०  
 ३२. वही १२/१०/४६७  
 ३३. वीतरागस्तोत्र- ८/२/३  
 ३४. उत्तराध्ययनसूत्र- १४/१९  
 ३५. भगवतीसूत्र- ९/६/३/८७  
 ३६. वही ७/२/२७३  
 ३७. वही ९/६/३८७; १/४/४२  
 ३८. गीता- २/२२, तुलना करें धेरगाथा- १/३८-६८८.  
 ३९. शंकर का आचार दर्शन, पृ० ६८  
 ४०. Jaina Psychology. 173.  
 ४१. तिलक गीता रहस्य- पृ० २६८.  
 ४२. F.H. Bradley, Ethical Studies P. 313.  
 ४३. गीता ६/४५.  
 ४४. Studies in Jaina Philosophy. P. 221.  
 ४५. Jaina Psychology P. 175.  
 ४६. स्थानांगसूत्र- ८/२  
 ४७. तत्त्वार्थसूत्र ८/११

## षट्जीवनिकाय में त्रस एवं स्थावर के वर्गीकरण की समस्या

षट्जीवनिकाय की अवधारणा जैनधर्म-दर्शन की प्राचीनतम अवधारणा है। इसके उल्लेख हमें प्राचीनतम जैन आगमिक ग्रन्थों यथा— आचारांग<sup>१</sup>, ऋषिभाषित<sup>२</sup>, उत्तराध्ययन<sup>३</sup>, दशवैकालिक<sup>४</sup> आदि में उपलब्ध होते हैं। यह सुस्पष्ट तथ्य है कि निर्ग्रन्थ परम्परा में प्राचीनकाल से पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति आदि को जीवन युक्त माना जाता रहा है। यद्यपि वनस्पति और द्वीन्द्रिय आदि प्राणियों में जीवन की सत्ता तो सभी मानते हैं, किन्तु पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु भी सजीव हैं— यह अवधारणा जैनों की अपनी विशिष्ट अवधारणा है। यहाँ हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि पृथ्वी, जल, वायु आदि में सूक्ष्म जीवों की उपस्थिति को स्वीकार करना एक अलग तथ्य है और पृथ्वी, जल आदि को स्वतः सजीव मानना एक अन्य अवधारणा है। जैन परम्परा केवल इतना ही नहीं मानती है कि पृथ्वी, जल आदि में जीव होते हैं अपितु वह यह भी मानती है कि ये स्वयं भी जीवन-युक्त या सजीव हैं। इस सन्दर्भ में आचारांग में स्पष्ट रूप से उल्लेख मिलता है कि पृथ्वी, जल, वायु आदि के आश्रित होकर जो जीव रहते हैं, वे पृथ्वीकायिक, अपृथ्वीकायिक आदि जीवों से भिन्न हैं।<sup>५</sup> यद्यपि पृथ्वीकायिक, अपृथ्वीकायिक जीवों की हिंसा होने पर इनकी हिंसा भी अपरिहार्य रूप से होती है। आचारांग के प्रथम अध्ययन के द्वितीय से सप्तम उद्देशक तक प्रत्येक उद्देशक में पृथ्वी आदि षट्जीवनिकायों की हिंसा के स्वरूप, कारण और साधन अर्थात् शस्त्र की चर्चा हमें उपलब्ध होती है। आचारांग, ऋषिभाषित, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक आदि में षट्जीवनिकाय के अन्तर्गत पृथ्वी, अपृ, अग्नि, वायु,

वनस्पति और त्रस— ये जीवों के छः प्रकार माने गये हैं, किन्तु इन षट्जीवनिकायों में कौन त्रस है और कौन स्थावर है? इस प्रश्न को लेकर प्राचीनकाल से ही विभिन्न अवधारणाएं जैन परम्परा में उपलब्ध होती हैं। यद्यपि वर्तमान में श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं में पृथ्वी, अपृ, अग्नि, वायु और वनस्पति इन पाँच को सामान्यतया स्थावर माना जाता है। पंचस्थावरों की यह अवधारणा अब सर्व स्वीकृत है। दिगम्बर परम्परा में तत्त्वार्थ का जो पाठ प्रचलित है उसमें तो पृथ्वी, अपृ, अग्नि, वायु और वनस्पति— इन पाँचों को स्पष्ट रूप से स्थावर कहा गया है। किन्तु प्राचीन श्वेताम्बर मान्य आगम आचारांग, उत्तराध्ययन आदि की तथा तत्त्वार्थसूत्र के श्वेताम्बर सम्मत पाठ और तत्त्वार्थभाष्य की स्थिति कुछ भिन्न है। इसी प्रकार दिगम्बर परम्परा में भी कुन्दकुन्द के ग्रन्थ पंचास्तिकाय की स्थिति भी पंचस्थावरों की प्रचलित सामान्य अवधारणा से कुछ भिन्न ही प्रतीत होती है। यापनीय ग्रन्थ षट्खण्डागम की धवला टीका में इन दोनों के समन्वय का प्रयत्न हुआ है।

त्रस और स्थावर के वर्गीकरण को लेकर जैन परम्परा के इन प्राचीन स्तर के आगमिक ग्रन्थों में किस प्रकार का मतभेद रहा हुआ है, इसका स्पष्टीकरण करना ही प्रस्तुत निबन्ध का मुख्य उद्देश्य है।

### १. आचारांग

आचारांग में षट्जीवनिकाय में कौन त्रस है और कौन स्थावर है? इसका कोई स्पष्टतः वर्गीकरण उल्लेखित नहीं है। उसके प्रथम श्रुतस्कन्ध के प्रथम अध्ययन में जिस क्रम से षट्जीवनिकाय का